

समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों में धर्म और संप्रदाय के चित्रण का अध्ययन

Alok Kumar Sen^{1*}, Dr. Vandana Devi Kushwah²

¹ Research Scholar, Shri Krishna University, Chhatarpur M.P.

² Assistant Professor, Shri Krishna University, Chhatarpur M.P.

सार- भारत के विभाजन से पहले और विभाजन के बाद के समय और समाज में काफी परिवर्तन आ चुका था। स्वाभाविक रूप से इसका प्रभाव भारतीय जनमानस पर भी पड़ा। कोई भी रचनाकार समाज से कटकर नहीं रह सकता। कोई भी ऐसी कालजयी रचना नहीं हो सकती जिसमें किसी न किसी रूप में समाज का चित्रण न किया गया हो। विभाजनोपरान्त परिस्थितियों ने रचनाकार के मानस को भी निश्चय ही प्रभावित किया है। उत्तरोत्तर बढ़ती हुई सांप्रदायिकता ने रचनाकार को धर्म, समाज, संप्रदाय, पारिवारिक रिश्ते, धर्म से इतर इंसानियत के आधार पर बनने वाले रिश्तों पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य किया। ऐसे में रचनाकार के दृष्टिकोण में धर्म, संप्रदाय, समाज इत्यादि को देखने और परखने के नजरिये का विश्लेषण करना आवश्यक है। धर्म भले ही अलग-अलग हों उनमें धर्म के नाम पर आपसी किसी भी मतभेद के लिए कोई स्थान नहीं था। दोनों ही धर्म के लोग एक-दूसरे के धार्मिक उत्सवों में शामिल हुआ करते थे लेकिन विभाजन ने इनके बीच मतभेद खड़े कर ही दिये। दंगे हुए और दोनों ही कौम के लोगों की जान और माल की क्षति हुई। स्वाधीनता के बाद भारत के राजनीतिज्ञों ने इसे और हवा दी। दोनों के बीच विभाजन बरकरार रखा। राही के उपन्यास 'आधा गाँव' के संबंध में आलोचक कुँवरपाल सिंह कहते हैं- "अपने महत्वपूर्ण उपन्यास 'आधा गाँव' में राही ने यह स्पष्ट किया कि धर्म राष्ट्र नहीं होता। इस्लाम एक धर्म है लेकिन एक राष्ट्र नहीं। राष्ट्र और धर्म को एक समझना इतिहास विरोधी समझ एवं मिथ्या चेतना है।

मुख्यशब्द - हिन्दी उपन्यासकार, धर्म और संप्रदाय के चित्रण, भारत, भारतीय जनमानस

-----X-----

प्रस्तावना

साहित्य जीवन की संचित अनुभूतियों का प्रतिबिम्ब होता है। कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, संस्मरण इत्यादि के माध्यम से मनुष्य अपनी आंतरिक भावनाओं को अभिव्यक्त करता है। समाज में घटने वाली घटनाओं से रचनाकार आंदोलित होता है और शब्दों के माध्यम से उसे अंकित कर वापस समाज को दे देता है। सहृदय पाठक इन भावनाओं के साथ जुड़ा हुआ महसूस करता है। उपन्यास की खासियत यह है कि इसमें मनुष्य के पूरे जीवन का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया जा सकता है। उपन्यास का कैनवास काफी बड़ा होता है जिसमें जीवन की कई घटनाओं का चित्रांकन एक साथ हो सकता है। उपन्यास की ओर मेरे आकृष्ट होने का कारण भी यही है।

सर्वप्रथम 'धर्म, संप्रदाय, समाज और साहित्य' पर विस्तृत चर्चा करते हुए विभिन्न विद्वानों, चिन्तकों, समाजशास्त्रियों, मानवविज्ञानियों, इतिहासकारों, दार्शनिकों एवं साहित्यकारों के धर्म, समाज, संप्रदाय और सांप्रदायिकता संबंधी विचारों को प्रस्तुत किया है। इस प्राथमिक कार्य के तहत भारतीय चिंतन जगत् एवं पाश्चात्य चिंतन जगत् के विचारकों के विचारों को अलग-अलग प्रस्तुत किया गया है। इसका कारण यह है कि भारतीय चिंतन जगत् में धर्म को कर्म के रूप में देखा गया, धर्म को मनुष्य के आचार-व्यवहार से जोड़कर देखा गया। वहीं पाश्चात्य चिंतन जगत् में धर्म की उत्पत्ति पर मुख्य रूप से विचार किया गया। धर्म की उत्पत्ति किस प्रकार हुई होगी? पाश्चात्य चिंतन जगत् के लिए मुख्य रूप से विचारणीय पक्ष यही रहा है। तत्पश्चात् भारतीय मनीषा और पाश्चात्य चिंतन जगत

में धर्म और संप्रदाय संबंधी विभिन्न विद्वानों के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उनके बीच मौजूद साम्य एवं वैषम्य को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। इसी अध्याय के अन्तर्गत सांप्रदायिकता पर भी विभिन्न विद्वानों एवं साहित्यकारों के विचारों को प्रस्तुत किया गया है। जिसके तहत सांप्रदायिकता के साथ क्या संबंध है और वह समाज को किस प्रकार प्रभावित करता है इसे रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। साथ ही समाज के साथ साहित्य का संबंध किस प्रकार है? विभिन्न साहित्यकारों ने इसे किस रूप में देखने का प्रयास किया है? समाज के किस तबके को सांप्रदायिकता सबसे ज्यादा प्रभावित करती है? इसके पीछे छुपे हुए लालची, स्वार्थी एवं भ्रष्ट तन्त्र का कितना योगदान है? इन प्रश्नों का रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

‘हिन्दी उपन्यासों में सांप्रदायिकता के सवाल’ को उठाते हुए यह देखने का प्रयास किया गया है कि भारत में किस प्रकार स्वाधीनता के पहले और स्वाधीनता के बाद से लेकर आज तक सांप्रदायिक समस्या बढ़ती गई है। स्वतंत्रता के पहले औपनिवेशिक शासकों ने ‘फूट डालो और शासन करो’ की नीति को अपनाया और भारत की दो बड़ी जातियों को एक-दूसरे के विरुद्ध खड़ा कर दिया। भारतीय जनता ने भी अपने अतीत को न देखकर औपनिवेशिक शासकों द्वारा कही गयी बातों को सत्य मान लिया, जिसका परिणाम विभाजन के रूप में भारतीय जनता को भुगतना पड़ा। स्वतंत्रता के बाद स्वार्थी सत्ताधारियों ने औपनिवेशिक शासकों की ‘फूट डालो और शासन करो’ की नीति को मूल मंत्र के रूप में अपना लिया। फलतः आजादी के बाद सांप्रदायिकता दिनोंदिन बढ़ती गयी। हिन्दी उपन्यासों की परम्परा पर दृष्टि डालते हुए सांप्रदायिकता के संदर्भों से रू-ब-रू होते उपन्यासों पर विचार किया गया है। हिन्दी उपन्यासों की एक लंबी परम्परा रही है। जिनमें सांप्रदायिकता की समस्या को उठाया गया है।

‘समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों की दृष्टि में समाज, धर्म और संप्रदाय’ में 60 के दशक के बाद के हिन्दी उपन्यासों में विभाजित समाज का चित्रण किस प्रकार हुआ है यह दर्शाने का प्रयास किया है। 60 के दशक के बाद से लेकर अब तक सांप्रदायिकता की समस्या को केन्द्र में रखकर दर्जनों उपन्यास लिखे जा चुके हैं। चाहे बाबरी मस्जिद ध्वंस हो या गुजरात का नरसंहार, उपन्यासकारों ने अभिव्यक्ति के सभी खतरे उठाते हुए अपने सामाजिक दायित्व का निर्वाह सफलतापूर्वक किया है। साथ ही

समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों की दृष्टि में वे कौन से तत्व हैं जो विभाजन के लिए जिम्मेदार हैं, इसकी भी जाँच-पड़ताल इस अध्याय के अन्तर्गत की गई है। उपन्यास लेखन के इतर कई उपन्यासकारों ने समय-समय पर निबंधों, वैचारिक आलेखों, साक्षात्कार आदि में सांप्रदायिकता की समस्या पर विचार किया है, इसे भी उक्त अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

समकालीन उपन्यास में विभाजित समाज का चित्रण

समकालीन उपन्यासों में विभाजित समाज का चित्रण किस रूप में हुआ है ? इस विषय पर एक विहंगम दृष्टि डालना भी जरूरी है। समकालीन उपन्यास की सीमा में सन् 1960 के बाद प्रकाशित हुए उपन्यासों पर दृष्टि डालने का प्रयास करेंगे। स्वाधीनता के तत्काल बाद ही सांप्रदायिकता की विभीषिका को तो मिली लेकिन यशपाल के उपन्यास ‘झूठासच-’ के अलावा और कोई ऐसा उपन्यास 1947 से लेकर 1960 तक विशेष चर्चा में नहीं रहा जिसमें सांप्रदायिकता की समस्या को शिद्धत से उठाया गया हो लेकिन साठ के दशक के बाद से लेकर आज तक सांप्रदायिकता की समस्या को लेकर कई उपन्यास लिखे गये। जैसे-जैसे सांप्रदायिकता की -

वैसे इन-समस्या का उभार होने लगा वैसे-50 वर्षों में उपन्यासकारों ने सांप्रदायिक विचारधारा के उभार के पीछे मौजूद आर्थिक, राजनैतिक, भाषिक और क्षेत्रीय कारणों का उल्लेख करते हुए इस समस्या पर विचार किया है। इससे इन उपन्यासकारों की सामाजिक प्रतिबद्धता तो उभरती ही है साथ ही सांप्रदायिक समस्या को विविध नज़रिये से देखने की दृष्टि भी मिलती है। स्वतंत्रता के बाद से लेकर अब तक सांप्रदायिकता पर आधारित जितने भी उपन्यास देखने को मिले उन्हें तीन भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम देश विभाजन से उत्पन्न हुए सांप्रदायिक तनाव को केन्द्र में रखकर लिखे गये उपन्यास। दूसरे हिस्से में ऐसे उपन्यासों को रखा जा सकता है जिनमें विभाजन के पश्चात् भारत में रह गये मुसलमानों के नरकीय जीवन का चित्रण किया गया है और तीसरे वर्ग में ऐसे उपन्यास हैं जिनमें देश में सांप्रदायिक सोच का प्रसार करने वाले तत्वों की शिनाख्त की गयी है। इन तीनों श्रेणियों में राही मासूम रजा, भीष्म, साहनी, शिवप्रसाद सिंह, कृष्णा सोबती, कमलेश्वर, बदीउज्जमाँ, गीतांजलि श्री, नासिरा शर्मा, प्रियंवद, मंजूर ऐहतेशाम, भगवान दास

मोरवाल आदि के उपन्यासों में चित्रित विभाजित समाज को देखनेपरखने का प्रयास किया जायेगा।-

सन् 1966 में राही मासूम रजा का उपन्यास 'आधा गाँव' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में राही ने उत्तर प्रदेश के गाँवों में रहने वाले किसानों एवं जमींदारों के आपसी संबंधों का चित्रण किया है। गंगौली नामक गाँव को कथा के केन्द्र में रखकर वहाँ आपसी सौहार्द के साथ बसने वाले मुसलमानों एवं हिन्दुओं के साझे जीवन का चित्रण उपन्यासकार ने किया है। राही ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि आजादी के पहले तक भारत में दूर-दराज तक के गाँवों में बसने वाले हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच किसी प्रकार का विभाजन मौजूद न था। इस बात से उनका कोई लेना-देना न था कि राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच क्या घट रहा था। उन्हें उनकी कोई परवाह भी न थी। वे तो बस यही समझते थे कि जिस गाँव में वे रहते थे वही उनका घर, उनकी जमीन, उनका वतन है। वे इस देश के बराबर के हकदार थे। गाँव में बसने वाले नुकसान किसानों का भी उसी प्रकार शोषण होता था जिस प्रकार हिन्दू किसानों का हुआ करता था।

सन् 1973 में राही ने एक और उपन्यास 'दिल एक सादा कागज' नामक उपन्यास लिखा जिसमें उन्होंने यह दर्शाने का प्रयास किया है कि धर्म के आधार पर देश का विभाजन न केवल गलत था बल्कि वे मुसलमान जो यह सोचकर कि इस देश में उनकी बहन-बेटियों की इज्जत सलामत नहीं रह सकती और पाकिस्तान चले गये लेकिन वहाँ उन्हें न तो ढंग का रोजगार प्राप्त हो सका और न ही सम्मान प्राप्त हो सका उल्टा उन्हें वहाँ 'मुहाजिर' कहा गया। विभाजित समाज का चित्रण राही के उपन्यास 'ओस की बूँद' में भी बड़ी ही मार्मिकता के साथ किया गया है। उनके उपन्यास 'टोपी शुक्ला' और 'हिम्मत जौनपुरी' में भी हिन्दू-मुस्लिम समस्या को बिल्कुल सही परिप्रेक्ष्य में रखकर परखने का प्रयास किया गया है। विभाजन को अपनी कथा का विषय बनाकर राही द्वारा लिखा गया उपन्यास 'टोपी शुक्ल' विशेष महत्व रखता है। लेखक ने आज के समाज में मौजूद हिन्दू-मुस्लिम समस्या को पूरी ईमानदारी के साथ पेश किया है। सांप्रदायिक विचारधारा किस प्रकार व्यक्ति-व्यक्ति के बीच विभाजन खड़ा कर देता है इसे उपन्यासकार ने बड़ी ही कुशलतापूर्वक दिखलया है। लेखक ने इस उपन्यास में बलभद्र नारायण शुक्ल और उनके मित्र इफ्फन अर्थात् सैयद जरगाम मुरतजा जैसे दो ऐसे चरित्रों की सृष्टि की है। जो अलग-अलग परिवेश में पलने के बावजूद स्वयं को एक-दूसरे के

बगैर अधूरा समझते हैं। अपने अकेलेपन के जीवन में टोपी शुक्ला राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सम्पर्क में आता है और वह यह जान पाता है कि मुसलमानों ने इस देश का कैसे सत्यानाश किया है और जब तक वे यहाँ हैं देश की उन्नति में रोज़ा अटकाते रहेंगे। इसी बीच उसके क्लास में वहीद नामक लड़का प्रथम स्थान पा जाता है जो इन विचारों को यकीन में बदल डालता है कि जब तक इस देश में मुसलमान हैं इस देश का कुछ भी भला नहीं हो सकता। इसके बाद टोपी शुक्ला मुसलमानों से नफरत करने लगता है। इधर इफ्फन भी कमोबेश इन्हीं विचारों से ग्रस्त है। उसे लगता है कि स्कूल के शिक्षक भी धर्म के आधार पर छात्रों के साथ पक्षपात करते हैं। हिन्दू लड़कों ने भी उर्दू पढ़ना छोड़ दिया है जिसे स्कूल के उर्दू के मौलवी साहब महसूस करते हैं। कालान्तर में अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी में इफ्फन और टोपी शुक्ला की मुलाकात होती है और सारे गिले-शिकवे दूर हो जाते हैं। इफ्फन और टोपी शुक्ला का मैत्री संबंध धर्म के कठमुल्लों को नागवार गुजरता है और वे टोपी शुक्ला और इफ्फन की पत्नि के संबंध के भी अफवाह फैलाना शुरू करते हैं। इस बीच टोपी शुक्ला पाँच दिनों के लिए अपने घर बनारस जाता है जहाँ से लौटने पर उसे पता चलता है कि जिस लड़की, सलीमा से वह विवाह करना चाहता था, उसका विवाह हो चुका है। उसे यह महसूस होता है कि चारों ओर नफरत और सांप्रदायिक मनोवृत्ति के लोग हैं और उसे ऐसे माहौल में घुटन महसूस होने लगती है। वह आत्महत्या कर लेता है। टोपी शुक्ला का मरना उसकी हार का नहीं बल्कि भारतीय समाज की हार का संकेत है, मानवीयता के हार जाने का परिणाम है। 'टोपी' उपन्यास इसी गुजरते हुए समय और बदलते हुए परिवेश की कहानी है।

'ओस की बूँद' उपन्यास में राही मासूम रजा ने विभाजन के उपरान्त उन मुसलमानों की मनोदशा का चित्रण किया है जो अपने ही देश में बेगानियत का शिकार बन गये। इस उपन्यास में लेखक ने सन् 1932 के बाद के गाजीपुर गाँव को कथा के केन्द्र में रखा है। राही के इस उपन्यास में ऐसे पात्रों की सृष्टि है जो आजादी से पहले पाकिस्तान के पक्षधर थे लेकिन पाकिस्तान बन जाने के बाद उन्होंने यह महसूस किया कि रहना तो उन्हें गाँधी और नेहरू के देश में ही है इसलिए वे यह मानने लगते हैं कि पाकिस्तान की माँग गलत थी। इस उपन्यास में केवल मुसलमान पात्रों को ही नहीं बल्कि हिन्दू पात्रों को भी दिखाया गया है कि कैसे विभाजन ने उनके अंदर भी एक विभाजन ला खड़ा किया था। अगर यह कहें कि

राही ने अपने समस्त उपन्यासों के माध्यम से सांप्रदायिक विचारधारा फैलाने वाले तत्वों से लोहा लिया है तो अतिशयोक्ति न होगी। राही के उपन्यासों के संबंध में डॉ. -

प्रमिला अग्रवाल कहती हैं 'राही के उपन्यासों के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि ये उपन्यास विभाजन के बाद पतनशील जीवनमूल्यों, अविश्वास और सन्देह के माहौल में सच्चे, ईमानदार लोगों की मनोव्यथा का चित्रांकन करते हैं। मुस्लिम परिवारों का अन्तरंग इनमें खुलकर सामने आया है, साथ ही भारतीय मुसलमान की पीड़ा का मार्मिक चित्र भी इनमें प्रस्तुत है।'² इस प्रकार यदि देखें तो राही का समस्त उपन्याससाहित्य सांप्रदायिकता के विरुद्ध एक - मुहिम है।

समकालीन उपन्यास में सांप्रदायिक तत्वों की खोज एवं पहचान

हिन्दी साहित्य के समकालीन उपन्यासकारों ने विभाजित समाज का चित्रण करने के साथ-साथ उन तत्वों की खोज करने का भी प्रयास किया है जो समाज में सांप्रदायिक विचारधारा का प्रसार करते हैं। यह पहले ही स्पष्ट हो चुका है कि धर्म, जाति, भाषा, क्षेत्र आदि के आधार पर समाज में विभाजन खड़ा करने का प्रयास किया जाता रहा है। भारतीय समाज में स्वाधीनता के पूर्व और स्वाधीनता के बाद इन तत्वों के आधार पर विभाजन के बीज बोये गये। समकालीन कथाकारों ने यह बात शिद्दत से महसूस की है कि आजादी के बाद एवं पाकिस्तान के अस्तित्व में आ जाने के बाद भी सांप्रदायिक वैमनस्य में कोई कमी नहीं आयी। इसमें लगातार बढ़ोत्तरी ही होती गई। अंग्रेजों की 'फूट डालो, शासन करो' की नीति को देश के कर्णधारों ने भी अपना लिया और सांप्रदायिक वैमनस्य देखते-देखते समाज के एक वृहद वर्ग को लील लेने के लिए तैयार हो गया। एक ओर मुसलमानों को विभाजन के दौरान भयानक हिंसा का शिकार होना पड़ा वहीं दूसरी ओर पाकिस्तान से आये शरणार्थियों के सम्मुख भी जीविका का प्रश्न था इस रूप में समाज में आर्थिक आधार पर भी संघर्ष देखने को मिला। आज के दौर में उग्र हिन्दुत्ववादी शक्तियाँ खड़ी ही नहीं हुई हैं बल्कि बड़े जोरों से अपने पैर भी जमा चुकी हैं। इन सांप्रदायिक शक्तियों से लोहा लेना भी आसान नहीं क्योंकि ये पुनरुत्थानवाद का मुखौटा पहनाकर समाज में जहर घोल रहे हैं। समकालीन उपन्यासकारों ने इस स्थिति को चित्रित करते हुए अपने विचार स्पष्ट किए हैं।

समकालीन उपन्यास पर अगर विहंगम दृष्टिपात किया जाये तो यह देखा जा सकता है कि उपन्यासकारों ने मुख्य रूप से तीन स्थितियों के माध्यम से सांप्रदायिक समस्या पर विचार किया है। पहली स्थिति के अंतर्गत ऐसे उपन्यास देखे जा सकते हैं जिनमें स्वाधीनता के पूर्व यह दिखलाने का प्रयास किया गया है कि कैसे भारतीय समाज में समरसता थी। कहीं भी सांप्रदायिक विचारों का लेश मात्र भी न था। पाकिस्तानी माँग रखने के साथ-साथ समाज में सांप्रदायिक विचारधारा का प्रसार होने लगा और हिन्दू राष्ट्रवादी एवं मुस्लिम राष्ट्रवादियों ने एक-दूसरे के खिलाफ विषममन करना प्रारम्भ कर दिया। मौके का फायदा औपनिवेशिक शासकों ने भी जमकर उठाया एवं सांप्रदायिक आधार पर लिये गये किसी भी निर्णय एवं माँग को स्वीकार कर लिया, उन सभी माँगों को सिरे से खारिज कर दिया जिनके द्वारा समाज में समरसता का संचार हो पाता। औपनिवेशिक शासकों ने जान-बूझकर दोनों जातियों को लड़ाने का प्रयास किया जिसमें उन्हें जबरदस्त सफलता मिली। समकालीन उपन्यासकारों ने औपनिवेशिक शासकों के इन कुचक्रों का खुलकर वर्णन किया एवं समाज में मौजूद विभाजनकारी तत्वों से भारतीय जनता को अवगत कराया।

समकालीन लेखकों ने सांप्रदायिक विचारधारा के प्रसार के लिए सबसे ज्यादा दोषी मध्यवर्ग को माना है। उच्चवर्ग में सांप्रदायिक समस्या नहीं के बराबर है। उच्चवर्ग अपने स्वार्थ के लिए दुश्मन को भी गले लगाने के लिए तैयार रहता है। धर्म की न तो कोई बंदिश उन पर लागू की जा सकती है और न ही वे धर्म की परवाह करते हैं। अगर उन्हें किसी चीज की परवाह है तो वह है धन। धनोपार्जन के लिए ये किसी भी धर्म के व्यक्ति के साथ संबंध जोड़ सकते हैं। निम्नवर्ग को भी धर्म से कुछ लेनादेना नहीं है। उसका एकमात्र -

लक्ष्य होता है दो वक्त की रोटीकी जुगाड़ लगाना। यही उसका पहला और अंतिम धर्म है। सांप्रदायिक समस्या होने पर सर्वाधिक प्रभावित भी यही वर्ग होता है क्योंकि पेट की खातिर उसे घर से बाहर निकलना ही पड़ता है। ऐसे में सांप्रदायिक समस्या उसके लिए किसी बड़ी विपदा से कम नहीं होती। मध्यवर्ग अपनी खोखली, मरणासन्न एवं दकियानूसी विचारों से जुड़ा हुआ है। धर्म के जाल में मध्यवर्ग ही सर्वाधिक फँसा हुआ है। धर्म के नाम पर सर्वाधिक दोहन इसी वर्ग का होता है।

समकालीन उपन्यासकारों ने सांप्रदायिकता की समस्या को उसकी जड़ के साथ देखने का प्रयास किया है। साथ इन उपन्यासकारों ने सांप्रदायिकता रूपी वट वृक्ष को सींचने वाले तत्वों से भी अपने पाठकों को अवगत कराया है। इन उपन्यासकारों ने मध्यवर्गीय दकियानूसी विचारों पर तो प्रहार किया ही है साथ ही साथ धर्म और उसके स्वरूप, धर्म और राजनीति, और सांप्रदायिकता के आर्थिक पहलू, सांप्रदायिक वैमनस्य के अन्य कारणों का भी उल्लेख किया है। समकालीन उपन्यासकारों ने धर्म के उन्माद में पागल चरित्रों की ही सृष्टि नहीं की है बल्कि उन्होंने ऐसे क्षणों में कुछ ऐसे पात्रों का भी सृजन किया है जो धर्म और उसके दायरे को लांघकर मानवीयता के आधार पर संवेदनशील नजर आते हैं। समकालीन उपन्यासकारों ने सांप्रदायिक समस्या के उन पहलुओं को भी उजागर करने का प्रयास किया है जिनसे साधारण व्यक्ति लगभग बेखबर रहता है। समकालीन उपन्यासकार ऐसे सांप्रदायिक तत्वों से खबरदार रहने की हिदायत देते हैं।

समकालीन हिन्दी उपन्यासकारों के सांप्रदायिकता संबंधी विचार

समकालीन कथाकारों ने अपने पूर्ववर्ती कथाकार प्रेमचंद, जैनेन्द्र, यशपाल आदि कथाकारों से विरासत में यह प्रवृत्ति हासिल की है कि जब भी समाज में कोई घटना घटित होती है तो केवल कहानियों और उपन्यासों में ही नहीं, निबंधों और टिप्पणियों के माध्यम से भी प्रस्तुत किये जाते हैं और यथाशक्ति समाज की विघटनकारी शक्तियों पर प्रहार किया जाता है। सांप्रदायिक समस्या पर प्रेमचंद, जैनेन्द्र आदि कथाकारों ने समय-समय पर निबंधों एवं टिप्पणियों के माध्यम से विचार किया है और सांप्रदायिकता फैलाने वाले हर तत्व को आड़े हाथों लिया है। यह परम्परा स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कथा-जगत के लेखकों में भी जीवित रही। यहाँ समकालीन लेखकों द्वारा समय-समय पर उपन्यासों के लेखों एवं टिप्पणियों में सांप्रदायिकता की समस्या पर उनके विचारों का अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

स्वाधीनता के पहले यह कहा जा रहा था कि विभाजन के बाद सांप्रदायिकता की समस्या का निदान स्वयं हो जायेगा लेकिन विभाजन के तत्काल बाद जिस सांप्रदायिक तांडव से भारत एवं पाकिस्तान के लोगों का सामना हुआ उसे आज भी भुलाया नहीं जा सकता है। भारत को धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र घोषित करने के पीछे कारण यह था कि अब सांप्रदायिकता की समस्या का खात्मा करना जरूरी है

किन्तु आजाद भारत में धर्म और राजनीति की ऐसी मिली-भगत स्थापित हुई कि भारतीय समाज को एक के बाद एक सांप्रदायिक समस्याओं से जूझना पड़ रहा है। कभी धर्म के नाम पर तो कभी जातीयता के नाम पर, कभी क्षेत्रीयता के नाम पर और कभी भाषा के नाम पर देश में सांप्रदायिक दैत्य खड़ा हुआ है। जिसने सामाजिक सामंजस्य और एकता को धक्का पहुँचाया है।

प्रेमचंद ने सांप्रदायिकता की समस्या पर गहराई से विचार किया है। सन् 1924 में प्रेमचंद 'जमाना' पत्रिका में लिखते हैं- "रहा तबलीग का मसला। इसमें दो राय नहीं हो सकती, क्योंकि हर मजहब को इसका काफी अख्तियार है बशर्ते कि उद्देश्य सच्चे अर्थों में धर्म का संस्कार और सिद्धान्तों का प्रचार हो। जब उसमें कोई राजनीतिक उद्देश्य छिपा होता है तो वह फौरन एक सियासी मामले की सूरत अख्तियार कर लेता है। दुर्भाग्य से वर्तमान समय में धर्म विश्वासों के संस्कार का साधन नहीं, राजनीतिक स्वार्थ-सिद्धि का साधन बना लिया गया है। उसकी हैसियत पागलपन सी हो गयी है जिसका वसूल है कि सब कुछ अपने लिए और दूसरों के लिए कुछ नहीं। जिस दिन यह आपस की होड़ और दूसरे से आगे बढ़ जाने का ख्याल धर्म से दूर हो जायेगा उस दिन धर्म-परिवर्तन पर किसी के कान न खड़े होंगे।"

समकालीन लेखकों ने धर्म और राजनीति के गंदे खेल पर लगातार प्रहार किया है। 'अभिव्यक्ति के सभी खतरे' (मुक्तिबोध) उठाते हुए समकालीन लेखकों ने अपने दायित्व का निर्वहन पूरी ईमानदारी के साथ किया है। मानवतावादी मूल्यों को संबंधित करते हुए लेखकों ने हर सांप्रदायिक शक्ति पर प्रहार करना जारी रखा है। आज भी समाज कई परतों में बंटा हुआ है जबकि विभाजन का कुफल सबके सामने है लेकिन इससे कोई सीख नहीं ली गई। कथाकार विष्णु प्रभाकर की चिंता इसी बात से है। कि अपने एक साक्षात्कार में वे कहते हैं- "सच कहूँ, तो विभाजन से कोई सीख नहीं ली गई। तब बहुत-से लोग तो भागकर आए, कई लोगों ने अपने पड़ोसियों को ही लूट लिया। शरणार्थी होकर आए अपनी ही बिरादरी के लोगों की मदद यहाँ के लोगों ने नहीं की। तो एक फांक पड़ गई। अब तो हालत बड़े नाजुक हैं।"

आज के समय की सबसे मुश्किल समस्या यह है कि हर धर्म ने स्वयं को एक दायरे में बंद सा कर लिया है। किसी भी धर्म में आज नवीन विचारों के लिए स्थान नहीं। साथ ही यह अपने अनुयायियों से भी यही अपेक्षा

रखता है कि जो कहा गया है वही अंतिम सत्य है, उसी लीक पर चलना मनुष्य का धर्म है। नये विचारों के आलोक में धर्म पर विचार करना धर्म की अवज्ञा करना है। इस कट्टर विचारधारा के कारण ही समाज में सांप्रदायिकता बढ़ गई है। धर्म की इस कूपमंडूकता पर विचार प्रकट करते हुए कथाकार कमलेश्वर कहते हैं- “कोई धर्म अंतिम नहीं है। हर धर्म को अंततः मानव धर्म के सांचे में ढलना पड़ेगा और मानव-हित के लिए उसे बदलना तथा स्वयं को परिष्कृत करना होगा। अंतिम सत्य किसी एक धर्म या मजहब के पास नहीं है। हर धर्म या मजहब को पूरा होने के लिए दूसरे धर्मों से कुछ न कुछ लेना पड़ेगा। यदि ऐसा नहीं होगा तो यह दुनिया और इसकी सभ्यता एक-दूसरे की पूरक न बनकर विरोधी ही बनी रहेंगी अपने-अपने न जाने कितनी तरह के पाकिस्तानों को जन्म देते रहेंगे, जो मनुष्य को चैन से नहीं बैठने देंगे।”²¹ हर धर्म में मानवता के कल्याणकारी तत्वों का समावेश है इसलिए जरूरी है कि हर धर्म एक-दूसरे से कुछ न कुछ ग्रहण जरूर करे तभी समाज में समरसता का संचार संभव है।

उपसंहार

समकालीन हिन्दी उपन्यास में साम्प्रदायिकता का संदर्भ विषय पर कार्य करते हुये कुछ महत्वपूर्ण बातें सामने निकलकर आती हैं। सबसे पहली बात तो यह कि धर्म की उत्पत्ति के संबंध में विभिन्न मत मौजूद हैं। भारतीय मनीषा में धर्म को कर्म के साथ जोड़कर देखने की परंपरा रही है। मनुष्य के आचार विचार व्यवहार के साथ धर्म को जोड़कर देखा गया है। वही पाश्चात्य जगत में धर्म की उत्पत्ति के कारणों को खोजने की कोशिश की गयी है। साथ ही साम्प्रदायिकता के साथ धर्म को जोड़कर देखा जाता है। जबकि धर्म का साम्प्रदायिकता के साथ कुछ भी लेना देना नहीं है। किसी भी धर्म में अन्य धर्मावलम्बियों के प्रति वैमनस्य का भाव रखने जैसी बातें नहीं कही गयी हैं। दूसरे धर्मों का आदर करने जैसी बात हर धर्म में कही गयी है, लेकिन हुआ यह कि एक धर्म के अनुयायी ने दूसरे धर्म के अनुयायी को घृणा की द्रष्टि से देखा है। एक धार्मिक व्यक्ति साम्प्रदायिक नहीं भी हो सकता है। जब की एक नास्तिक व्यक्ति भी साम्प्रदायिक हो सकता है।

जबजब धर्म किसी व्यक्ति के हाथों का खिलौना बना है-, तबतब धर्म में संकीर्ण प्रवृत्तियों ने जन्म लिया है। अतएव - है यह कहा जा सकता, कि धर्म का साम्प्रदायिकता के साथ कुछ भी ताल्लुक नहीं है। धर्म का इस्तेमाल अन्य

धर्मावलम्बियों के खिलाफ किया जाता है, क्योंकि धर्म के नाम पर लोगों को एकजुट करना बहुत आसान है। साम्प्रदायिकता के भाषायीकरण भी रहे हैं। भारत की आजादी से पहले हिंदुओं और मुसलमानों के बीच साम्प्रदायिक वैमनस्य भाषा के आधार पर ही खड़ा किया गया। बाद में इसने धार्मिक रूप धारण किया। साम्प्रदायिकता के आर्थिक कारण भी मौजूद हैं। साम्प्रदायिकता वर्ण के आधार पर भी होती है। साम्प्रदायिकता क्षेत्र के आधार पर भी अपना अस्तित्व जमाये हुये हैं। अतएव साम्प्रदायिकता को केवल धर्म के साथ जोड़कर देखना इसके केवल एक आयाम को देखना होगा। इसे और भी व्यापक स्तर पर देखने की आवश्यकता है

भारतीय समाज में आधुनिक विचारों के लिए स्थान नहीं बन पाया जिसके परिणामस्वरूप तमाम विकृतियाँ सिर उठाने लगीं। वैज्ञानिक सोच का अभाव भारतीय समाज में देखा जा सकता है। बीचबीच में धार्मिक - ढोंग का ऐसा जोरदार बहाब देखने को मिलता है, कि विश्वास करना मुश्किल हो जाता है, कि क्या सच में हम आधुनिक समय में जी रहे हैं? आये दीन नयेनये - धर्मगुरुओं का उदय हो रहा है। वास्तव में, बाजारवाद के युग में धर्म भी एक धंधा बन चुका है, जिसमें कभी मंदा नहीं आती। इन सब परिस्थितियों को देखने के बाद यह कहना गलत नहीं होगा कि जहाँ भारत में आज भी सामंती सोच बनी हुई है, वहीं पूँजीवादी ताकतों के और भी ज्यादा मजबूत होने के कारण समाज का कोई कोना शिकार होने से बचा नहीं है। जहाँ तक जनतांत्रिक व्यवस्था की बात है, तो जनतंत्र क्या और एक जनतंत्र में रहनेवाले नागरिक के कर्तव्य और अधिकार क्या हैं, यह शायद देश की आधी से अधिक जनता जानती नहीं। जनतंत्र का मखौल भारत के नेताओं ने उड़ाया है। भारत में संविधान भले ही एक हो, कानून और न्यायिक प्रक्रिया दो प्रकार के हैं। एक उच्चवर्ग के लिए तो दूसरा मध्यवर्ग एवं निम्नवर्ग के लिए। इसके उदाहरण भारतीय समाज में भरे पड़े हैं।

संदर्भ

1. आरिफ , मो. उपयात्रा (पुस्तक), राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली (प्रकाशक) 2006.

2. ऐहतेशाम, मंजूर सूखा बरगद (पुस्तक), राजकमल पेपर बैक्स, दिल्ली (प्रकाशक) 2003.
3. लमलेश्वर, कितने पाकिस्तान, (पुस्तक), राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली (प्रकाशक) 2007.
4. गुजराल, तरसेम, जलता हुआ गुलाब (पुस्तक), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली (प्रकाशक) 2002.
5. द्रुवेदी, हजारी प्रसाद, वाणभट्ट की आत्मकथा (पुस्तक), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (प्रकाशक) 2003.
6. प्रेमचंद, रंगभूमि (पुस्तक), प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली (प्रकाशक) 2008.
7. बिस्मिल्लाह, अब्दुल, झीनी-झीनी बीनी चदरिया, (पुस्तक), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (प्रकाशक) 2003.
8. माजी, महुआ, मैं बोरिशाइल्ला, (पुस्तक), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (प्रकाशक) 2006.
9. मिश्र, व्यास, अग्नि पत्थर, (पुस्तक), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (प्रकाशक) 2007.
10. रजा, राही मासूम, आधा गाँव, (पुस्तक), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (प्रकाशक) 2004.
11. राय, विभूतिनारायण, शहर में कफर्यू, (पुस्तक), अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद 2001.
12. शर्मा, नासिरा, जिंदा मुहावरे, (पुस्तक), वाणीप्रकाशन, इलाहाबाद 2001.
13. श्री, गीतांजली, हमारा शहर उस बरस, (पुस्तक), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (प्रकाशक) 2007.
14. सहनी, भीष्म, तमस (पुस्तक), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (प्रकाशक) 2006.
15. साहनी, भीष्म नीलू नीलिमा निलोफर, (पुस्तक), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (प्रकाशक) 2007.
16. सिंह, दूधनाथ, आखिरी कलाम (पुस्तक), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (प्रकाशक) 2007.
17. सिंह, शिवप्रसाद, अलग-अलग वैतरणी (पुस्तक), लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद (प्रकाशक) 2008.
18. सोबती, कृष्णा, जिंदगीनामा (पुस्तक), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली (प्रकाशक) 2004.
19. अग्रवाल, डॉ. प्रमिला, भारत विभाजन और हिंदी कथा साहित्य, जयभारती प्रकाशन, इलाहाबाद 1992.
20. अग्रवाल, रोहिणी, इतिवृत्त की संरचना और संरूप, आधार प्रकाशन, पंचकुला 2006.
21. अमिताभ, डॉ. वेदप्रकाश, हिंदी उपन्यास की दिशायें, गोविन्द प्रकाशन, मथुरा, 2003.
22. इंजीनियर, असगर अली, साम्प्रदायिकतारु इतिहास और अनुभव, इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद 2007.

Corresponding Author

Alok Kumar Sen*

Research Scholar, Shri Krishna University,
 Chhatarpur M.P.